शोध मंथन, 2018 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X, Impact Factor 3.8942 (ICRJIFR)
UGC Approved Journal No. 40908

पं० दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक दर्शन

डॉ० शिवाली अग्रवाल
एसो० प्रो०, राजनीति विज्ञान विभाग,
आई० एन० महिला पी० जी० कालिज, मेरठ।

साराशं

दीनदयाल का लोकतंत्र विषयक विचार लोकतंत्र की पाश्चात्य व भारतीय अवधारणा से प्रारम्भ होकर उसके भारतीयकरण अर्थात् 'लोकमत–परिष्कार' की विवेचना करते हुए भारतीय लोकतंत्र के विश्लेषण के साथ पूर्ण होता है। दीनदयाल का चिंतन आदर्शवादी है। वे अपने विचारों में समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक तत्वों से ज्यादा नीतिशास्त्र से प्रभावित हैं। किसी दल को नीतिशास्त्रीय नेता उपलब्ध होना बड़े सौभाग्य की बात होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो आदर्श का आचरण करता है वही 'नीतिशास्त्र' की महत्ता को भी सिद्ध कर पाता है। समझौतावादी लोग आदर्श व नीति को तात्कालिक परिणामों के भय से त्याग देते हैं। उनकी व्यवहार नीति के नाम पर अवसरवाद पनपता है। जिस 'अवसरवाद' के बारे में दीनदयाल ने चेताया था, उसका जब भयानक दौर भारत में प्रारम्भ हुआ, उसी दौर में उनकी हत्या हो गई। भारतीय लोकतंत्र की यह बड़ी क्षति थी। दीनदयाल एक राजनीतिक दल के महामंत्री थे, लेकिन उनके उपर्युक्त विचार, दलवाद से ऊपर एक शुद्ध लोकतंत्रवादी के नाते व्यक्त किए गये विचार हैं। भारत का बहुल चरित्र अपनी राष्ट्रीय एकता को तभी बनाये रख सकता है जब देश में लोकतंत्र रहे।

मूल शब्द

लोकतन्त्र, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रवाद, भारत

शोध पत्र का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार हैः
डॉ० शिवाली अग्रवाल

पं० दीनदयाल उपाध्याय का राजनीतिक दर्शन

शोध मंथन, मार्च 2018,
पेज सं0 1–7

Article No. 1
http://anubooks.com
?page_id=581

दीनदयाल एक राजनीतिक दल के महामंत्री थे, लेकिन उनके उपर्युक्त विचार, दलवाद से ऊपर एक शुद्ध लोकतंत्रवादी के नाते व्यक्त किए गये विचार हैं। भारत का बहुल चरित्र अपनी राष्ट्रीय एकता को तभी बनाये रख सकता है जब देश में लोकतंत्र रहे। उनके राष्ट्रवाद ने ही उन्हें प्रखर लोकतंत्रवादी बनाया था। दीनदयाल ने जो विचार दिये वह भारतीय जनसंघ के राष्ट्रीय पदाधिकारी के होने के नाते नहीं दिये, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक व्यवस्था परिवर्तन करने के लिए दिये। वे राष्ट्रवादी थे इसलिए उनकी दृष्टि केवल अपने दल पर नहीं सम्पूर्ण राष्ट्र पर थी।

लोकतंत्र और राष्ट्रीय एकता

दीनदयाल का मत था कि ''भारत की परिस्थिति में प्रजातंत्र का राष्ट्रीय एकता से गहरा सम्बन्ध है। यदि यहाँ प्रजातंत्र समाप्त हो गया तो एकता को भी नष्ट होते देर न लगेगी .....(विघटनकारी तत्वों में से भी) .....जो प्रजातंत्रीय पद्धति का अनुसरण करेंगे वे शनैः शनैः राष्ट्रवाद की ओर बढ़ते जायेंगे। चुनावों में जातिवाद व क्षेत्रवाद का सहारा लेने वाले भी जब जीतकर आयेंगे तो सबको साथ लिए बिना अकेले नहीं बैठ सकेंगे। यही कारण है कि द्रविड़ मुन्नेत्र कडगम के रूप में धीरे–धीरे परिवर्तन हो रहा है। प्रजातंत्र के रहते हुए किसी प्रांत विशेष में किसी दल विशेष का प्रभुत्व भी आ गया तो वह अलग नहीं हो सकता, किन्तु यदि प्रजातंत्र समाप्त हुआ तो एकता पहले समाप्त हो जायेगी। .....भारत की एकता के लिए प्रजातंत्र जरूरी है।''1 भारत की एकता के लिए दीनदयाल लोकतंत्र को अनिवार्य मानते थे।

गठबन्धन की राजनीति बनाम अवसरवाद

सत्ता प्राप्ति के लिए लोकतंत्र का अवसरवादी उपयोग हमारे प्रजातंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती है। इसके लिए सावधान करते हुए दीनदयाल कहते हैं – ''संयुक्त मोर्चे भी अपने देश में बनाये जाते रहे हैं, जिन समझौतों व संयुक्त मोर्चों का आधार यही रहा करता है कि विभिन्न राजनीतिक दल पृथक्–पृथक रूप से लड़कर सत्तारूढ़ दल को पराजित न कर सकेंगे, और इसलिए सभी को मिलाकर कांग्रेस के विरुद्ध एक प्रत्याशी खड़ा करना चाहिए। .....ये समझौते और संयुक्त मोर्चे जनता में निषेधात्मक वृत्ति पैदा करते हैं जो कभी भी उचित नहीं है। ऐसे समझौते करने वाले तत्व संयुक्त मोर्चे बनाते समय सिद्धान्तों में भी सौदेबाजी करते हैं। जिससे देश में अवसरवादी तत्वों को प्रश्रय मिलता है।2 गठबंधन को दीनदयाल जी अवसरवाद मानते थे। यह सत्ता प्राप्ति का तिकड़म है।

दीनदयाल का लोकतंत्र विषयक विचार लोकतंत्र की पाश्चात्य व भारतीय अवधारणा से प्रारम्भ होकर उसके भारतीयकरण अर्थात् 'लोकमत–परिष्कार' की विवेचना करते हुए भारतीय लोकतंत्र के विश्लेषण के साथ पूर्ण होता है। दीनदयाल का चिंतन आदर्शवादी है। वे अपने विचारों में समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक तत्वों से ज्यादा नीतिशास्त्र से प्रभावित हैं। किसी दल को नीतिशास्त्रीय नेता उपलब्ध होना बड़े सौभाग्य की बात होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो आदर्श का आचरण करता है वही 'नीतिशास्त्र' की महत्ता को भी सिद्ध कर पाता है। समझौतावादी लोग आदर्श व नीति को तात्कालिक

परिणामों के भय से त्याग देते हैं। उनकी व्यवहार नीति के नाम पर अवसरवाद पनपता है। जिस 'अवसरवाद' के बारे में दीनदयाल ने चेताया था, उसका जब भयानक दौर भारत में प्रारम्भ हुआ, उसी दौर में उनकी हत्या हो गई। भारतीय लोकतंत्र की यह बड़ी क्षति थी।

समाजवाद के प्रति दृष्टिकोण

समाजवाद के विषय में दीनदयाल के विचारों का सरलरेखीय विवेचन सम्भव नहीं है। एक समय उपाध्याय 'समाजवाद' के समर्थक थे। यह समय 1952–53 का था। उसके बाद उनके द्वारा 'समाजवाद' शब्द का उपयोग किये बिना समतावादी आर्थिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन तथा आर्थिक क्षेत्र में राज्याधिकार का विरोध चलता रहा। यह काल 1954–56 तक का है। 1957 के जनसंघ–घोषणापत्र में पहली बार 'समाजवाद' की, राज्य के हाथों में शक्ति के केन्द्रीयकरण के संदर्भ में, आलोचना की गई। 1958 के जनसंघ के सातवें बंगलौर अधिवेशन में 'समाजवाद' तथा 'पूँजीवाद' पर तीव्र प्रहार किये गये, लेकिन उपाध्याय का सम्पूर्ण आर्थिक विवेचना समाजपरक एवं समतावादी है। वे सम्पत्ति पर व्यक्ति का समाज निरपेक्ष अधिकार स्वीकार नहीं करते। मुनाफाखोरी कर्मप्रेरणा तथा यांत्रिक उद्योगवाद के भी वे प्रबल विरोधी हैं 'समाजवाद' का भी वे तीखा विरोध करते हैं। इसके मुख्यतः निम्न कारण हैं –

- समाज सत्ता व वित्त का राज्य में केन्द्रीयकरण करता है। सत्ता का विकेन्द्रीयकरण जरूरी है।
- समाजवाद सर्वग्रासी राज्य का हिमायती है। वे निरंकुश या तानाशाही के विरोधी हैं।
- समाजवाद लोकतंत्र विरोधी तानाशाही शासन का पोषक है। लोकतंत्र के वे प्रबल समर्थक हैं।
- समाजवाद वर्ग संघर्षवादी, भौतिकवादी व अमानवीय दर्शन हैं। वे मानवीय हैं।
- समाजवाद भारतीयता के प्रतिकूल विदेशी विचार हैं विदेशी विचारधारा को दीनदयाल कभी स्वीकार नहीं करते।

इस विरोध के बावजूद उनके प्रतिपादन में समाजवाद के प्रति एक भावनात्मक लगाव है। वे समाजवादी प्रवृत्ति, समाजवादी दृष्टिकोण तथा समाजवादी आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था – इस प्रकार समाजवाद की त्रि–आयामी व्याख्या करते हैं समाजवादी प्रवृत्ति को वे आवश्यक बताते हैं, समजावदी दृष्टि जो समतावदी है उसे वांछनीय मानते हैं, लेकिन 'समाजवादी राज्य–व्यवस्था' का प्रबल विरोध करते हैं। पूँजीवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्था को मूलतः समान प्रवृत्ति की घोषित करते हैं कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक समाजवाद की व्यासख्या से वे असहमत हैं। वे मार्क्सवाद को भारतीयता के विरोधी मानते हैं।

दीनदयाल के ये शब्द उल्लेखनीय हैं – ''बुभुक्षितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और समाज में उन्हें समान स्तर और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करा देने की इच्छा, आज भी प्रत्येक समाजवादी को प्रेरणा देती है। उनकी सदिच्छा सराहनीय है। इस दुःख और कष्टों से परिपूर्ण विश्व में असमानता, अन्याय, दुःख, कष्ट, उत्पीड़न, प्रताड़ना, दासत्व, शोषण, क्षुधा और अभाव को देखकर कोई भी व्यक्ति जिसे

मानवीय अन्तःकरण प्राप्त है, समाजवादी वृत्ति अपनाये बिना नहीं रह सकता। परन्तु समाजवाद यहीं तक सीमित नहीं है। यह ठीक है कि वह एक दुःखपूर्ण स्थिति का अन्त चाहता है। उसने स्थिति का विश्लेषण किया है, रोग का निदान किया और उसके लिए औषधि की योजना भी की है। यहाँ पर उन्हें मार्क्स का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। उसने अपने समकालीन समाजवादी विचारों को एकत्रित कर एक ऐसी विस्तृत विचारसरणी प्रस्तुत की जो आगे आने वाली पीढ़ियों को आकर्षित करने की क्षमता रखती है। मार्क्स विचार भिन्नता रखने वाले समाजवादी भी उनके अकाट्य तर्कों का खण्डन नहीं कर पाते। उसने एक करणीय योजना प्रस्तुत की और बोल्शेविकों ने उस स्वप्न को साकार करने हेतु सफलतापूर्वक रूस की सत्ता पर अधिकार कर लिया। बोल्शेविक क्रांति से लेकर आज तक का रूस का इतिहास विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सफलताओं के बावजूद, इस पद्धति की अपूर्णता का ही द्योतक रहा है।''3

दीनदयाल स्पष्ट करते हैं कि जनसंघ समाजवाद का विरोध कर रहा है, इसका यह अर्थ नहीं कि जनसंघ पूँजीवाद का समर्थक है, वरन् जनसंघ पूँजीवाद का भी पूरी उग्रता के साथ विरोधी है। वे लिखते हैं, ''.....क्योंकि वहाँ (पूँजीवाद में) समस्त शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। यथार्थ में समाजवाद और पूँजीवाद एक ही राग के दो रूप हैं। यूरोप में औद्योगिक क्रांति ने स्वावलंबी कर्मियों को ही समाप्त कर दिया। यदि औद्योगिक कार्यक्रम अपनाते समय सचेत रहें तो हम सिद्धान्ततः 'विकेन्द्रीकरण' स्वीकार कर भारत को पूँजीवाद व समाजवाद दोनों के दुर्गुणों से बचा सकते हैं। हमारा सिद्धान्त होना चाहिए, छोटी इकाइयों द्वारा उत्पादन।''4

दीनदयाल अपने विवेचन में 'समाजवाद' का विश्लेषण 'पूँजीवाद' की प्रतिक्रिया में उत्पन्न विचार के ही रूप में करते हैं तथा दोनों को मानव की भ्रमपूर्णः कल्पनाओं पर आधारित मानते हैं, दोनों उनकी दृष्टि में समान रूप से अमानवीय हैं –

''पूँजीवाद का आधार यदि आर्थिक मनुष्य है तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप समाजवाद ने 'सामूहिक–मनुष्य' की कल्पना की। मनुष्य को एक प्रकार मना लिया। उस सामूहिक–मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने का लक्ष्य ही सामने रखा। उसके जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूरी उपेक्षा कर दी। इन दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्य का विचार नहीं।'' दीनदयाल उपाध्याय 'मानव्य' एवं उसके स्वातंत्र्य के पक्षपाती हैं, लेकिन ''.....जब टाटा और बिरला 'व्यक्ति–स्वातंत्र्य' या 'मुक्त प्रेरणा' की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है उनकी अपनी स्वतंत्रता, उनके कारखानों में गुलाम बने हुए लाखों करोड़ों मजदूरों की स्वतंत्रता नहीं। हमें तो लाखों–करोड़ों मानवों की स्वतन्त्रता का विचार करना है। शक्ति चाहे राजनीतिक हो या आर्थिक, केन्द्रीयकरण से व्यक्ति–स्वातंत्र्य समाप्त होता है। पूँजीवाद व समाजवाद दोनों ही केन्द्रीयकरण के हामी हैं। ....दोनों ही व्यवस्थाओं में मनुष्य का विचार होता है परिणामात्मक आधार पर, न कि गुणात्मक आधार पर।''5

दीनदयाल समाजवाद व लोकतंत्र का सह–अस्तित्व असम्भव मानते हैं –

''यूरोपीय समाजवादियों के नये प्रयासों ने उस तत्व को जन्म दिया जिसे आज जनतांत्रिक समाजवाद का नाम दिया गया है। वे कम्युनिस्टों से मतभिन्नता रखते हुए यह प्रतिपादित करते रहे हैं कि समाजवाद का प्रादुर्भाव जनतंत्रीय ढंग से होना चाहिए। वे एक साथ समाजवाद तथा जनतंत्र दोनों

की आराधना करना चाहते हैं। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवाद और प्रजातंत्र एक साथ पनप भी सकते हैं ? सिद्धान्तवादी इस पर आशान्वित हैं, पर प्रगतिवादी इस पर विश्वास नहीं करते। समाजवाद इसका हामी है कि उत्पादन के समस्त स्रोत राज्य के अधीन होने चाहिए। चूँकि समाजवादी यह समझते हैं कि समाज का राजनैतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोत के साथ ही ढलता है, अतः समाजवादी व्यवस्था में राज्य का आर्थिक क्षेत्र के साथ–साथ राजनैतिक और अन्य क्षेत्रों में भी पूर्णः वर्चस्व रहना आवश्यक है। इससे एक स्थिति पैदा होगी, जब उन लोगों के विरूद्ध जो शासन में हैं, लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना सम्भव ही नहीं होगा। समाजवादी बन्दूक और गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कोई लोकतंत्रवादी ही होगा। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों साथ–साथ नहीं चल सकते। शेर–बकरी का एक ही घाट पर पानी पीना असम्भव है।''6

दीनदयाल समाजवाद व साम्यवाद में अन्तर नहीं करते तथा कहते हैं कि वैचारिक क्षेत्र में अपेक्षित लचीलेपन के स्थान पर इसमें मजहबी कट्टरता है। ''.....(लोकतंत्र) में भूलों की सुधारने तथा नवीन बातों को स्वीकारने की सिद्धता रहती है। पर समाजवादियों के समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में इस प्रकार के लचीलेपन का अभाव है। यह विचारधारा किसी प्रकार के नवीन चिन्तन की प्रेरणा नहीं देती। मसीहाबाद और अपरिवर्तनीय अंधविश्वासों पर आधारित मजहब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी, नए स्वतंत्र विचारों से दूर ही रहना पसंद करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्टों के शब्दकोश में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भी रहती हैं।''7 इसी मसीहाबाद के कारण इसने ''एक युद्धपिपासु मानव को जन्म दिया। यह शुद्ध मानव समाजवादी राज्य की ही देन है। उसे न विचार करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है, न स्वयं निर्णय करने की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत मानवजीवन का मूल्य एक निरीह पशु से अधिक नहीं आंका जाता।''8

दीनदयाल 'समाजवाद' के इतने विरोधी इसलिए भी बन गये कि 'समाजवाद' शब्द के सम्मोहन की आड़ में देश में 'साम्यवाद' के प्रति एक सम्मान पैदा किया जा रहा था। इसके लिए वे कांग्रेस व नेहरू को जिम्मेदार मानते थे।4 वे साम्यवादी तानाशाही के सख्त खिलाफ थे। नेहरू का पाश्चात्यवादी मानस भी उनके विचारों के अनुकूल न था। अतः नेहरू व कम्युनिस्ट दल जिस नारे के बल पर राजनीति कर रहे थे उसको देश में निर्विवाद रहने देना उन्हें गलत लगता था। अतः यह ज्ञात होते हुए भी कि दुनिया में समाजवादियो की बड़ी संख्या गैरसाम्यवादी है, उन्होंने समाजवाद व साम्यवाद में फर्क न करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया। परन्तु विचार के पटल पर साम्यवाद व समाजवाद में अन्तर करना जरूरी है। वास्तविकता तो यह है कि साम्यवाद के भी अनेक प्रकार हैं। यथा, रूसी–साम्यवाद, चीनी–साम्यवाद, युगोस्लाव–साम्यवाद एवं यूरो–साम्यवाद आदि।

दीनदयाल की मान्यता थी कि पूँजीवाद तथा समाजवाद तो पश्चिमी औद्योगिक क्रान्ति के 'जुड़वाँ' बेटे हैं। अतः वे कहते हैं कि समाजवादी भी मूलतः पूँजीवादी ही होते हैं ''समाजवादी, फिर वह चाहे जिस रूप–रंग के हों, पश्चिम की प्रौद्योगिकी में अमिट श्रद्धा रखते हैं। उनकी लड़ाई मशीन से नहीं, मशीन के मालिक से है। फलतः उसकी मिलकियत राज्य को सौंपकर वे समाधान मान लेते हैं।''9

यह 'विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था' के द्वारा ही सम्भव है। हमें समाजवाद अथवा पूँजीवाद नहीं, मानव का

उत्कर्ष और सुख चाहिए।''10

दीनदयाल समाजवाद पर अपने विचारों को व्यक्त करते समय उसे भारतीय संदर्भ में ही विवेचित करते हैं, जो सैद्धान्तिक के साथ–साथ राजनैतिक भी था। उनके विचारों के कुल स्वर को सुनकर कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि वे विधायक रूप से 'समष्टिवादी' थे। वे 'पूँजीवाद' व 'समाजवाद' इन दो कठोर दायरों में विचारधाराओं को बाँटकर, किसी एक दायरे की तरफदारी के खिलाफ थे। पूँजीवाद के खिलाफ तो वे समाजवादी ही थे, लेकिन प्रतिक्रिया में उत्पन्न राज्यवादी 'समाजवाद' के खिलाफ वे 'मानववादी' थे। उपाध्याय का यह तकनीकी आधार पर 'समाजवाद' का विरोध लोगों को बहुत समझ में नहीं आया अतः लोगों ने उन्हें प्रचलित 'समाजवादी' खेमे के विरोधी अर्थात् पूँजीवादी खेमे में धकेल दिया। आज के तकनीकी युग में उद्योगवाद के विरोधी को आधुनिकीकरण का विरोधी भी माना जाता है। सम्भवतः यही कारण था कि उपाध्याय के विचार लोग ठीक से नहीं समझ पाये।11

लोकल्याणकारी राज्य का समर्थन

पाश्चात्य विश्व में पूँजीवाद व समाजवाद की अतिवादी बहस का समाधान 'लोक कल्याणकारी राज्य' की अवधारणा से किया गया। दीनदयाल ने इस अवधारणा के विषय में ज्यादा विवेचना नहीं किया है। जितना थोड़ा संदर्भ उनके लेखों में आया है वह 'लोक कल्याणकारी राज्य' अवधारणा की प्रशंसा में ही आया है। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा वास्तव में पूँजीवादी व साम्यवादी घेराबंदी को तोड़ने वाली विचारसरणी की उपज है। उपाध्याय इस संदर्भ में लिखते हैं –

'विगत तीस वर्षों में अपनी उदारवादी नीतियों एवं नवीन आर्थिक चिंतन के कारण उन्होंने (पाश्चात्य राष्ट्रों ने) समाजवादियों को हतप्रभ कर डाला है। आज अमेरिका या इंग्लैण्ड का सर्वसाधारण व्यक्ति किसान या मजदूर, जिसे साम्यवादी परिभाषा के अनुसार 'सर्वहारा' कहा जाता है, सौ वर्ष पहले की तथाकथित उत्पीड़ित अवस्था में नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर कल्याणकारी राज्य के आदर्श प्रस्थापित हो रहे हैं। पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही देशों के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणियाँ असत्य सिद्ध हुईं। कल के पूँजीवादी देशों ने अपनी पद्धति में विकास किया है और आज के भौतिक विकास में समाजवादियों से टक्कर लेने को उद्यत है।''12 इस उद्धरण में समाजवाद के खिलाफ लोक कल्याणकारी राज्य अवधारणा को पूँजीवाद के विकास या सुधार के रूप में प्रशंसित किया गया हे। इसी प्रकार बम्बई के अपने प्रसिद्ध भाषण में वे कहते हैं – ''यूरोप के कुछ देशों में समाजवाद के नाम पर राजनैतिक क्रान्तियाँ हुईं। जहाँ लोगों ने समाजवाद को स्वीकार नहीं किया वहाँ भी राज्यकर्ताओं को श्रमिकों के अधिकारों को मान्य करना पड़ा तथा कल्याणकारी राज्य का आदर्श सामने रखा गया।''13 इस उद्धरण में वे लोक कल्याणकारी राज्य को समाजवादी मजदूर संगठनों की विजय के रूप में प्रतिपादित करते दिखायी दे रहे हैं।

पूँजीवादी 'आर्थिक अराजकता' तथा साम्यवादी 'राज्यवादिता' के खिलाफ इसका प्रणयन हुआ है। साम्यवादियों का आन्तरिक आत्मालोचन उन्हें 'नववाम' की ओर उत्प्रेरित कर रहा है जो लोकतंत्रीय उदारवाद व मानववाद की विजय है। यदि दीनदयाल इधर ध्यान देते तो उनका 'एकात्म मानववाद' आधुनिक वैश्विक विचारयात्रा में सहभागी हो जाता।14

सन्दर्भ

1. दीनदयाल उपाध्याय, *'जनतंत्रद्रोहियों से देश की रक्षा करें, पांचजन्य,* 15 अगस्त, 1966, **पृ. 7**
2. पांचजन्य, **5 फरवरी, 1962, पृ. 32**
3. देखें, डॉ० महेशचन्द शर्मा, *दीनदयाल उपाध्याय,कर्तृत्व एवं विचार,* **पृ. 198**
4. बंगलौर अधिवेशन के पश्चात् (3), *दीनदयाल उपाध्याय, पांचजन्य,* **23 फरवरी, 1959**, **पृ. 29**
5 पांचजन्य, **30 मार्च, 1959 पृ. 8**
6. दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र चिंतन, **पृ. 73**
7 वही. **पृ. 74**
8. वही, **पृ. 7**
9. पांचजन्य, 22 जून, 1959, **पृ. 23**
10 वही. 30 अक्टूबर, 1967, **पृ. 12**
11. *एकात्म दर्शन,* दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली, **पृ. 69**
12 डॉ० महेशचन्द्र शर्मा, *दीनदयाल उपाध्याय – कर्तृत्व एवं विचार,* **पृ. 203**
13. पांचजन्य, 2 जनवरी, 1961, **पृ. 13**
14. *एकात्म दर्शन,* दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली, **पृ. 10**